श्रीगुरुमाई के वचनों पर ध्यान

महाशिवरात्रि

ईशा सरदेसाई द्वारा लिखित

अच्छाई के बीज

श्रीगुरुमाई ने बताया कि चाहे हम किसी भी धर्म या आध्यात्मिक परम्परा का अनुसरण करें, सत्य हम सबके लिए एक ही है। उन्होंने समझाते हुए कहा कि चाहे हम कोई भी भाषा बोलें, चाहे हमारी त्वचा का रंग कोई भी हो या हमारे तौर-तरीक़े कैसे भी हों, वह एक ही है।

उन्होंने आगे कहा :

> सत्य एक ही है। हम सब अच्छाई चाहते हैं, हम सब सदयता चाहते हैं, हम सब मधुरता चाहते हैं। हम सब आपस में सम्पर्क रखना चाहते हैं, विचारों का आदान-प्रदान करना चाहते हैं। यदि तुम्हें किसी से सच्चा प्रेम है तो उसे यह बताना ठीक है, "मेरे मन में तुम्हारे लिए प्रेम है, मेरे मन में तुम्हारे लिए सराहना का भाव है। मेरे लिए तुम सराहनीय हो।"
>
> कोई भली बात कहने में कोई बुराई नहीं है। यक़ीन मानो, तुम हमेशा ही किसी से कोई भली बात कह सकते हो। और यदि उस समय उस बात को ग्रहण करने का उसका मूड न भी हो, तो भी किसी न किसी समय उसे याद आएगा कि तुमने उससे क्या कहा था। वह कहेगा, "कितना भला व्यक्ति है जिसने मुझसे कहा कि मैं अच्छा हूँ, जिसने मुझसे कहा कि वह मेरी सराहना करता है।"
>
> तुम्हारे शब्द तब उस व्यक्ति की मदद करते हैं जब उसे उन शब्दों की सबसे अधिक ज़रूरत होती है। जब तुम अच्छाई बिखेरते हो तो हो सकता है तुम्हें उसका श्रेय या उसकी मान्यता तुरन्त न मिले। कोई बात नहीं। जब तुम अच्छाई का बीज बोते हो तो एक दिन, वह बढ़कर एक महावृक्ष बन जाता है।

जब गुरुमाई जी ने यह सिखावनी प्रदान की, तब मेरे लिए जो चीज़ें उभरकर आईं, उनमें से एक थी, उनकी वाणी में निहित आश्वासन का भाव। किसी से यह कहना कि आप उनसे प्रेम करते हैं और उनकी सराहना करते हैं, उनसे कुछ सदयतापूर्ण शब्द कहना—कितना सरल लगता है। और फिर भी

गुरुमाई जी हमसे बार-बार कह रही थीं कि ऐसी सदयता दिखाना *एकदम ठीक* है, कि ऐसा करने में *कुछ ग़लत* नहीं है, कि जब वे हमें यह मार्गनिर्देशन दे रही हैं तो हम उन पर विश्वास कर सकते हैं।

मुझे नहीं लगता कि जब तक गुरुमाई जी ने ये शब्द नहीं कहे थे, तब तक मैंने इस बात के महत्त्व की ओर ध्यान दिया होगा कि इस आश्वासन की हमें—या कम से कम मुझे—कितनी आवश्यकता है। यह अपने आपमें एक खुलासा था, जैसे किसी बात का नया ही अर्थ उजागर हुआ हो! मैं सोचने लगी, ऐसा क्यों है कि हम दूसरों के प्रति अपने प्रेम को अभिव्यक्त करने से अपने आपको रोकते हैं? वह क्या है जो हमें उनकी उस बात की सराहना करने से रोकता है जो हमें उनमें सचमुच अच्छी लगती है? जान-बूझकर या अनजाने में, हम किस तरह अपने और सामने वाले व्यक्ति के बीच की दूरी को बढ़ाते जाते हैं, बढ़ाते जाते हैं, और अधिक बढ़ाते जाते हैं?

फ़िलहाल मैं इस नतीजे पर पहुँची हूँ कि अकसर इसका कारण होता है, अत्यधिक आत्म-सचेत होना यानी अपने बारे में और दूसरों की नज़र में अपनी छवि को लेकर, ज़रूरत से ज़्यादा जागरूक और असहज रहना। जब हम शिशु थे, तभी से लोगों से मिलने वाली प्रतिक्रिया के अनुसार—या जिस प्रतिक्रिया की हमने अपेक्षा की थी, उसके अनुसार!—अपने व्यवहार को बदलना, यहाँ तक कि उसे रोकना, सीख जाते हैं। कोई हमें अपनाए, स्वीकार करे—यह इच्छा हमारे अन्दर गहराई से रची-बसी है। यह प्राकृतिक है, यह एक तरीक़ा है जिससे हम यह सुनिश्चित करते हैं कि हमारा अस्तित्व [ख़ासकर तब जब हम बहुत छोटे होते हैं] और, विस्तृत अर्थ में, हमारी प्रजाति का अस्तित्व बना रहे।

जैसे-जैसे हम बड़े होते जाते हैं और हम अधिक आत्मनिर्भर होते जाते हैं, स्थितियाँ बदल जाती हैं, हमारे लिए चीज़ों का महत्त्व बदल जाता है। अब हमारा शारीरिक सुख-स्वास्थ्य दूसरों की स्वीकृति पर कम निर्भर होता है। 'जोखिम मोल लेने या अपनी गर्दन फँसाने' का नतीजा अब सामान्यतः इतना ख़तरनाक नहीं होता; उदाहरण के लिए, इसका मतलब हो सकता है, किसी से जुड़ाव या सम्पर्क बनाने की कोशिश करना, पर इसकी कोई गारण्टी नहीं हो सकती कि सामने वाला इंसान हमारी पहल को स्वीकार करेगा या नहीं।

फिर भी, नकारे जाने की काली छाया हर समय मँडराती रहती है। इसका प्रभाव इतना प्रबल होता है कि यह हमें किसी की ओर बढ़ने से रोकती है। जब हम किसी की सराहना करना चाहें या उस व्यक्ति को यह बताना चाहें कि वह कितना अच्छा है तो हमें अपने अन्दर से उठने वाली प्रबल प्रेरणा पर सन्देह हो सकता है, क्योंकि हमें पता ही नहीं होता कि वह व्यक्ति हमारे शब्दों को किस प्रकार

ग्रहण करेगा। हो सकता है कि हमारे मन में यह विचार आए, "क्या मैं इस व्यक्ति के इतना क़रीब हूँ कि मैं इस तरह इसकी सराहना करूँ? क्या मैं उसका समय ख़राब तो नहीं कर रहा हूँ? अगर इससे पहले सैकड़ों लोग उसे यह बात बता चुके हों तो? उसे अपने बारे में यह बात तो पहले से पता ही होगी। क्या यह सचमुच ज़रूरी है कि मैं भी उससे यह बात कहूँ?"

ये प्रश्न पूरी तरह निराधार तो नहीं हैं। जैसा कि मैंने पहले बताया, हम अपने अनुभव से यह सीख जाते हैं कि दूसरों की प्रतिक्रिया के अनुसार अपने व्यवहार को किस तरह बदलना है; खुद को अभिव्यक्त करने का हमारा जो अन्तर्जात और स्वाभाविक तरीक़ा है, उसके साथ हम समझौता कर लेते हैं, क्योंकि हो सकता है कि किसी न किसी मोड़ पर उस व्यवहार, उस अभिव्यक्ति को नकारा गया हो, उसे नापसन्द किया गया हो। और हाँ, हमें इस बात के प्रति *निश्चित ही* विचारशील रहना चाहिए कि हम दूसरों की सराहना कब और कैसे करें। हम जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं। शालीन होना महत्त्वपूर्ण है।

परन्तु मुझे लगता है कि हमें इस बात के प्रति सावधान रहना चाहिए कि हम तथाकथित शालीनता के दिखावे के पीछे छिपें नहीं, या अपने पिछले अनुभव के आधार पर यह तय न कर लें कि अभी, वर्तमान में क्या होगा। इस प्रकार जब हम अपने कार्यों को दूसरों के दृष्टिकोण और उनकी प्रतिक्रियाओं में जकड़ जाने देते हैं, तब हम अपनी क़ीमत भी कम कर लेते हैं। इतना ही नहीं, इस प्रक्रिया में हम प्रायः संसार को अपनी अच्छाई से वंचित कर देते हैं।

मुझे एक कहानी याद आ रही है जो गुरुमाई जी ने अपनी पुस्तक 'अन्तर-शुद्धि के सोपान' में सुनाई है। [आप यह कहानी सिद्धयोग पथ की वेबसाइट पर भी पढ़ सकते हैं, साथ ही इसके बारे में श्रीगुरुमाई की सिखावनियों को भी पढ़ सकते हैं।] इस कहानी में दो मित्र एक समाचार-पत्र-विक्रेता की दुकान के आगे रुकते हैं। उनमें से एक, समाचार-पत्र ख़रीदता है और जब वह आदमी विक्रेता को शालीनता से धन्यवाद देता है तो विक्रेता, चेहरे पर बिना किसी भाव के, निर्विकार दृष्टि से, उस आदमी को देखता रहता है। बाद में, वह आदमी शान्तभाव से अपने मित्र को बताता है कि विक्रेता हर रात ऐसा ही रहता है।

जब उस आदमी का मित्र पूछता है कि वह समाचार-पत्र ख़रीदने के लिए बार-बार इसी समाचार-पत्र-विक्रेता की दुकान पर क्यों आता है और इतनी शिष्टता से उस विक्रेता के साथ व्यवहार क्यों करता है तो वह आदमी कहता है : "मैं कैसा व्यवहार करूँगा, इसका निर्णय मैं उसके हाथों में क्यों दूँ?"[१]

'श्रीगुरुमाई के वचनों पर ध्यान' के अपने पिछले भाग में मैंने लिखा था कि यदि हम इस संसार में मांगल्य को बढ़ाना चाहते हैं तो हमें किस अन्तर-भाव को विकसित करना चाहिए। दूसरों के साथ हमेशा अच्छा व्यवहार करना, दूसरों के प्रति अपनी अच्छाई अभिव्यक्त करना, उनकी अच्छाई को स्वीकार करना, निरन्तरता के साथ यह सब करते रहना खुद के प्रति उतनी ही बड़ी वचनबद्धता है जितना कि दूसरों के लिए किया गया अच्छा कार्य। यह वैश्विक-दृष्टिकोण के प्रति वह वचनबद्धता है जिसे हमने चुना है—ऐसा कहने का अर्थ यह है कि *हम* इस विश्व को कैसा बनाना चाहते हैं, हमारे अनुसार यह विश्व कैसा बन सकता है, और हम यह कैसे करना चाहेंगे।

इस सन्दर्भ में हम जिन सद्गुणों का अनुकरण करना चाहते हैं, उनके एक आदर्श उदाहरण के रूप में हम एक बार फिर भगवान शिव से प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। भारत के देवी-देवताओं में भी, भगवान शिव अपनी असीम उदारता के लिए प्रसिद्ध हैं। वे देते हैं, देते हैं और *देते ही जाते हैं,* बिना हमें जाँचे-परखे और बिना किसी पक्षपात के, वे देते रहते हैं, वे सतत सभी के कष्टों को हरते रहते हैं। भगवान जो देते हैं, उसके बदले में उन्हें कुछ नहीं चाहिए होता। वे 'स्वयम्भू' हैं, जो स्वतः उत्पन्न हुए हैं, परम स्वतन्त्र हैं, जिनका न आदि है और न अन्त। वे 'विश्वभेषज' हैं, अर्थात् समस्त विश्व को आरोग्य लाभ कराने वाले, सभी जीवों के लिए महा-औषधि। वे 'औघड़दानी' हैं, अर्थात् वे जो मुक्तहस्त से आशीर्वाद व ज्ञान प्रदान करते हैं।

अब तक मैंने अच्छा व दयालु होने को एक अज्ञात क्षेत्र में क़दम रखने जैसा बताया है। हमें हमेशा ही यह पता नहीं होता कि हमारे प्रति लोगों की प्रतिक्रिया क्या होगी। जैसा कि गुरुमाई जी कहती हैं, हो सकता है हम किसी से कुछ भली बात कहें और वह उस समय उसे सुनने के मूड में न हो। तथापि अपनी सिखावनी में, गुरुमाई जी इस विषय को यहीं नहीं छोड़ देतीं। वे आगे इस बात की पुष्टि करती हैं कि दूसरों के प्रति हम जो अच्छाई दिखाते हैं वह उनके साथ *बनी रहती* है। जैसा गुरुमाई जी कहती हैं कि हमारे शब्द तब उन लोगों की मदद करते हैं जब उन्हें उन शब्दों की सबसे अधिक ज़रूरत होती है।

मुझे ईसप की नीतिकथाओं से यह प्रसिद्ध कहावत याद आ रही है : "दयाशीलता का कोई भी कृत्य, कितना भी छोटा क्यों न हो, कभी व्यर्थ नहीं जाता है।" हमें किसी और से नहीं, स्वयं अपनी *श्रीगुरु* से ही यह आश्वासन प्राप्त है कि हमारे सद्भावनापूर्ण प्रयत्नों को स्वीकार किया जाएगा। हम चाहे जिस भी तरह के संशयों से जूझते रहे हों, जैसे—"क्या वह मेरी बात पर ध्यान देगा? वह क्या कहेगा? वह मेरे बारे में क्या सोचेगा?"—वे सारे संशय दूर हो जाते हैं।

हम यह भरोसा रख सकते हैं कि हमारे प्रयासों का सकारात्मक परिणाम निकलेगा—यदि अभी नहीं, तो भविष्य में कभी। अपनी सिखावनी में गुरुमाई जी ने महावृक्ष का सुन्दर चित्र हमारे सामने प्रस्तुत किया जो अच्छाई के उन बीजों से उभरता है जो हम बोते हैं। इससे मुझे सात पीढ़ियों के सिद्धान्त की याद हो आई जो दायित्वपूर्ण संरक्षण का एक मूल सिद्धान्त है, जिसका अभ्यास कई आदिवासी संस्कृतियों में किया जाता है और जिसे पहले पहल मैंने गुरुमाई जी से सीखा। इस सिद्धान्त के अनुसार यह अपेक्षित है कि जब हम कोई कार्य करें तो हमें पिछली सात पीढ़ियों के प्रज्ञान को ध्यान में रखते हुए उसे करना चाहिए और साथ ही इस उद्देश्य से करना चाहिए कि *आने वाली* सात पीढ़ियाँ इससे लाभान्वित हों।

यह सब बताने के बाद, मैं यह जानने के लिए उत्सुक हूँ कि आप क्या सोचते हैं। हम सब कितने अलग-अलग हैं। हममें से कुछ अन्तर्मुखी होते हैं जिनका स्वभाव ही होता है अपने आपमें रहना। हममें से कुछ बहिर्मुखी होते हैं जिन्हें लोगों से मिलने-जुलने में और बाहरी क्रियाकलाप में रुचि होती है। हममें से कुछ लोग शान्त स्वभाव वाले होते हैं। हममें से कुछ बहुत ज़िन्दादिल होते हैं। फिर भी हम सभी का अपना-अपना महत्त्व है। हम सब जो देते हैं, उसका महत्त्व है। इसलिए आपके योगदान के बारे में जानने का मुझे इन्तज़ार रहेगा।

आपके जीवन में जो लोग हैं, उनकी मौजूदगी को आप किस प्रकार मान्यता देते हैं, उसका किस प्रकार सम्मान करते हैं? आप कैसे उनके लिए ऐसा वातावरण बनाए रखते हैं ताकि वे जैसे हैं वैसे बने रह सकें और खुलकर अपने विचार व्यक्त कर सकें? आप अपने दायरे में, अपनी दुनिया में उनका स्वागत कैसे करते हैं? आप कैसे उन्हें यह बताते हैं कि उनका भी महत्त्व है—कि उनके विचारों व भावनाओं का महत्त्व है—चाहे उन्होंने आपके लिए या इस संसार के लिए कुछ किया हो अथवा नहीं?

© २०२६ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन®। सर्वाधिकार सुरक्षित।

---

[१] गुरुमाई चिद्विलासानन्द द्वारा लिखित, 'अन्तर-शुद्धि के सोपान : दिव्य सद्गुणों का योग' [चित्शक्ति पब्लिकेशन्स, २०१३], पृ १३०।